आधुनिक काल में 'अहिंसा' तत्त्व के उपयोजन की मर्यादाएँ
(जैन तत्त्वज्ञान एवं आचार के विशेष सन्दर्भ में)

('विश्वशान्ति एवं अहिंसा' इस विषय पर, कर्नाटक विश्वविद्यालय (धारवाड) के संस्कृत विभागद्वारा आयोजित राष्ट्रीय चर्चासत्र में (२२-२३ फेब्रुवारी २०१३) प्रस्तुत किया जानेवाला शोधनिबन्ध)

पत्रव्यवहार के लिए पता :
डॉ. कौमुदी बलदोटा
२०३, 'बी' बिल्डींग,
गीतगोविंद हौसिंग सोसायटी,
महर्षिनगर, पुणे ४११०३७
दूरध्वनि : (०२०) २४२६०६६३
मोबाईल क्र. - ९१५८९१०३००
ई-मेल : sunil_baldota@rediffmail.com

दि. १२/०२/२०१३

शोधछात्रा : डॉ. कौमुदी बलदोटा, नानावटी फेलो, जैन अध्यासन, पुणे विद्यापीठ
विषय और मार्गदर्शन : डॉ. नलिनी जोशी, प्राध्यापिका, जैन अध्यासन, पुणे विद्यापीठ

शोधनिबन्ध का शीर्षक :

पूरे विश्व में शान्ति प्रस्थापित करने के लिए अहिंसा तत्त्व की महत्ता सर्वोपरि है, इसके बारे में मतभेद होने की तनिक भी गुंजाईश नहीं है । अगर भविष्यत् काल में समूचे विश्व का अगर एक ही नीतिप्रधान धर्म प्रस्थापित होगा, फिर भी उसमें अहिंसा का स्थान अक्षुण्ण ही रहेगा । भारत में उद्भूत सभी धर्म-सम्प्रदायों में अहिंसा का स्थान हमेशा अग्रगण्य ही रहा है । वैदिक अगर हिन्दु दर्शन -महाभारत-उसमें अन्तर्भूत भगवद्गीता तथा पुराणों तक के सभी साहित्य में अहिंसा के गरिमा की ध्वनि गूँज रही है । गौतम बुद्ध द्वारा प्रचलित दया-करुणापर आधारित पंचशील तत्त्व को प्रचलित धर्मनिरपेक्ष भारतीय राज्यघटना में भी मार्गदर्शक तत्त्वों के रूप में स्थान दिया गया है । अहिंसा की व्याख्या-लक्षण-स्वरूप-प्रकार-उपप्रकार आदि सूक्ष्मातिसूक्ष्म याने कि बाल के खाल निकालने तक की चर्चा अगर हमें देखनी है तो जैन परम्परा के कई ग्रन्थ इसपर प्रकाश डालने में अति तत्पर है । आचार-विचार-व्यवहार-व्यापार-नीतिमत्ता-धार्मिकता-आध्यात्मिकता आदि कई दृष्टियों से जैनों ने अहिंसा पर और साथ ही साथ हिंसा के अन्तरंग और बाह्यस्वरूप पर विस्तृत बयान प्रस्तुत किये हैं । आचारांग, सूत्रकृतांग जैसे प्राचीन अर्धमागधी ग्रन्थ, भगवती आराधना जैसे शौरसेनी भाषा में निबद्ध ग्रन्थ एवं पुरुषार्थसिद्ध्युपाय जैसे संस्कृत ग्रन्थों में, जैनियों ने हिंसा-

अहिंसा पर अति विस्तार से अपनी कलम चलायी है । सोमदेवसूरिकृत 'यशस्तिलकचम्पू' जैसे अभिजात संस्कृत शैली का महाकाव्य भी तात्पर्य रूप में अहिंसा तत्त्व की ही पुष्टि करता है ।

विश्वशान्ति के लिए अहिंसा की आवश्यकता यद्यपि निर्विवाद है तथापि सद्य:कालीन परिस्थिति में अगर 'तात्त्विक अहिंसा' को हम 'उपयोजित' करने लगे तो बहुतसी शंकाएँ एवम् मर्यादाएँ स्पष्ट होने लगती है । यह भी एक अजीब बात है कि जैसी जैसी विश्व में अधिकाधिक अशान्ति फैलने लगी है वैसी-वैसी बौद्धिक क्षेत्र में अहिंसाविषयक चर्चासत्र एवम् संगोष्ठियों का जोर-शोर से आयोजन हो रहा है । प्रस्तुत शोधनिबन्ध में आधुनिक काल के सन्दर्भ में अहिंसा के उपयोजन की मर्यादाओं पर विशेष बल देने का प्रयास किया है । जैन तत्त्वज्ञान का अहिंसाविषयक परिप्रेक्ष्य ध्यान में रखकर ही, ये विचार प्रस्तुत किये हैं । इस शोधनिबन्ध में सात प्रमुख मुद्दों के आधार से चर्चा की है -

(१) षट्जीवनिकाय-रक्षा अर्थात् पर्यावरण-संरक्षण

(२) शाकाहार-मांसाहार : आदर्शवादी दृष्टिकोण और वस्तुस्थिति

(३) वैचारिक अहिंसा अर्थात् अनेकान्तवाद

(४) हिंसाधार व्यवसायों का निषेध

(५) जैन तत्त्वज्ञान में कालचक्र और बढती दुष्प्रवृत्तियाँ

(६) हिंसा के चार प्रकार

(७) मानवजाति की प्रगति के लिए अनिवार्य हिंसा

(१) षट्जीवनिकाय-रक्षा अर्थात पर्यावरण-संरक्षण :

सबसे प्राचीन अर्धमागधी ग्रन्थ जो आचारांगसूत्र है उसका उपोद्घात ही पर्यावरण की ओर जागृति निर्माण करनेवाली सभी संवेदनाओं को समर्पित है । 'पर्यावरण' यह शब्द नि:संशय आधुनिक ही है । उस शब्द का साक्षात् प्रयोग तो जैन ग्रन्थों में नहीं पाया जाता फिर भी षट्जीवनिकाय का रक्षण भावार्थ रूप से पर्यावरण का रक्षण ही है । आचारांग के परवर्ती ग्रन्थों में भी विशेषत: दशवैकालिक ग्रन्थ में यह मुद्दा खास तौर पर अधोरेखित किया है । जैन अवधारणा के अनुसार पृथ्वी याने जमीन, अप् याने जल, तेज याने अग्नि और सभी ऊर्जास्रोत, वायु और वनस्पति की सभी जाति-प्रजातियाँ तथा हलनचलन करनेवाले सभी जीवजन्तु (कीडे-मकोडे से लेकर पञ्चेन्द्रिय मनुष्यतक)-ये छह जीवनिकाय याने जीवों के समूह हैं । इनमें से पहले पाँच स्थावर याने हलनचलन करनेवाले नहीं हैं । सामान्य रूप से इन पाँचों को जड महाभूत भी कहा जाता है लेकिन जैन दृष्टि से जमीन आदि पाँच, एक इन्द्रिय से युक्त स्थावर जीवों के समूह हैं । त्रस

जीवों की हत्या जैन दृष्टि से सर्वथा वर्जनीय है । पहले पाँच जो जीने के लिए अत्यावश्यक है उनकी भी हमें 'बिना प्रयोजन-जरूरत से ज्यादा या असावधानी' के कारण हत्या नहीं करनी चाहिए । उन सबका कम से कम उपयोग करके उनकी रक्षा भी करनी चाहिए ।

प्रस्तुत किया हुआ आदर्शभूत तत्त्व नि:संशय प्रशंसनीय है तथापि ये सब निसर्गनिर्मित स्रोत, बढती आबादी के कारण और लालसा के कारण भी ज्यादा से ज्यादा कुचलाये जाने लगे हैं । कोयले की खानें खनना, अनिवार्य हो गया है । पानी का कितना भी कम प्रयोग करें भविष्यत् काल में पानी के निमित्त होनेवाले युद्ध अटल हैं । नैचरल गॅस जैसे ऊर्जास्रोत मर्यादित हैं । वायुमण्डल के बारे में कहे तो, ओझोन का स्तर विरल और दूषित हो रहा है । वनस्पति-सृष्टि के बारे में कहे तो, जंगल दिन ब दिन घटते ही जा रहे हैं । केवल 'कम से कम उपयोग' के द्वारा पर्यावरण की रक्षा नहीं होनेवाली है । पर्यावरण समृद्ध करने के लिए अभयारण्य की निर्मिति, पानी का सूक्ष्मता से सिंचन, rain water harvesting, निरुपयोगी जल का पुनर्वापर, जैविक प्रकार से खेती, कचरे से ऊर्जानिर्मिति, सूर्य की ऊर्जा का उपयोग आदि कई तरीके अपनाये जा सकते हैं । षट्जीवनिकाय-रक्षा का अहिंसात्मक स्वरूप प्राय: प्रत्येक जैनी को पूर्णत: परिचित है तथापि बचावात्मक पापभावना का प्रारूप उसके मन में इतना पक्का हो गया है कि उपरोक्त सभी उपायों के प्रति बहुत ही कम जागृति दिखायी देती है । भारत जैसे खण्डप्राय देश में जो लोग इन उपायों में अग्रेसर हैं उनकी मात्रा भी बहुत ही अल्प है । परिणामवश षट्जीवनिकाय-रक्षा के ग्रान्थिक वर्णन हमें पर्यावरण की रक्षा में निष्प्रभ से लग रहे हैं ।

(२) शाकाहार-मांसाहार : आदर्शवादी दृष्टिकोण और वस्तुस्थिति :

जैन धर्म और आचारप्रणाली ने अहिंसा तत्त्व का उपयोजन कई तरीके से किया । मनुष्यलक्ष्यी दृष्टिकोण अपनाकर अहिंसक बनने का एक सीधा तरीका बताया - वह है, 'पूर्णत: शाकाहार का पालन ।' उसके अनुसार त्रस जीवों की हत्या, सम्पूर्ण निषिद्ध है । अत: वनस्पतिजन्य आहार पर लक्ष केन्द्रित करके उसके अन्तर्भूत भी अनेक नियम-उपनियम 'पिण्डैषणा' शीर्षक के अन्तर्गत विस्तृत रूप से बताये हैं । CNN-IBN के द्वारा भारत में किये हुए सर्व्हे के अनुसार भारत में ३०% लोग शाकाहारी हैं । शाकाहार का अभियान यद्यपि फैल रहा है तथापि अगर पूरे विश्व को ध्यान में रखे तो शायद १०% से ज्यादा लोग कतई शाकाहारी नहीं है । अहिंसा का हवाला देकर विश्व के ९०% लोगों को शाकाहारी बनाना प्राय: अशक्यप्राय ही है । इसके कई कारण हैं -

१) विश्व में कई धर्म और सम्प्रदाय ऐसे हैं कि जिनमें मांसाहार का बिल्कुल ही निषेध नहीं है ।

२) कई भौगोलिक परिस्थितियाँ ऐसी है कि वहाँ मांसाहार के सिवाय दूसरा इलाज ही नहीं है ।

३) जगत् की कई संस्कृतियों ने सांस्कृतिक टॅबू निर्माण करके विशिष्ट-विशिष्ट प्राणियों का मांस भक्षण करना, हेरिटेज या परम्परा का अनिवार्य भाग माना है ।

४) कई सामुद्री तटों के रहिवासियों के - चावल और मछली, ये दोनों नित्य आहार के घटक हैं ।

५) मानव-जाति के संस्कृति के इतिहास में बताया जाता है कि मनुष्यप्राणी प्रथम शिकार करने लगा और बाद में खेती । इससे सिद्ध होता है कि मांसाहार एक दृष्टि से नैसर्गिक भी है ।

६) पूरे विश्व में कई जगहें ऐसी भी हैं जहाँ जमीन ऊपजाऊँ नहीं है । अत: जीने के लिए उन्हें मांसाहार का सहारा लेना ही पडता है ।

७) आहारशास्त्र की दृष्टि से उचित प्रोटीन्स, विटामिन्स और क्षार जिनसे मिले वह 'उचित आहार' है । आहारशास्त्र कोई धार्मिक शास्त्र नहीं है । इसलिए वह प्रोटीन्स-विटामिन्स की चर्चा पर अधिक बल देता है । शाकाहार या मांसाहार की सिफारिश नहीं करता ।

८) पक्षपात दृष्टि से किया हुआ Health Survey हमें इसी सत्य से प्राय: अवगत करेगा कि, 'शाकाहारी लोग अधिक निरोगी होते हैं और मांसाहारी लोग रोगपीडित होते हैं', लेकिन यह बात हम सिद्ध नहीं कर सकते ।

९) इसी प्रकार अगर Moral Survey याने नीतिशास्त्रीय सर्वेक्षण किया जाएँ तो यह सिद्ध नहीं होगा कि शाकाहारी लोग 'अधिक नैतिक' हैं और मांसाहारी लोग 'कम मात्रा में नैतिक' हैं ।

भारतीयों की यह दृष्टि है कि, 'हम शाकाहारी हैं, इसलिए हम में नीतिमूल्यों की भी उच्चता है', लेकिन सच्ची बात यह है कि नीतिमूल्यों की बात तो दूर, सामान्य नागरिकशास्त्र के नियमों का पालन भी भारतीय समाजव्यवहार में दिखायी नहीं देता ।

१०) जिस प्रकार खेत में बीज आदि लगाकर अनाज पैदा किया जाता है उसी प्रकार आजकल पर्यावरण की हानि किये बिना नये नये वैज्ञानिकी तरीकों का उपयोग करके पोल्ट्रीज्, फिशरीज् और पिगरीज् बनायी जाती हैं । उनका मत यह है कि यह प्रक्रिया खेती से बहुत ज्यादा भिन्न नहीं है ।

यह तो प्राय: मान्य ही करना पडेगा कि सामाजिक सुव्यवस्था रखने के लिए, रखे हुए नियमों का पालन करना आद्य नैतिक कर्तव्य है । उन सबको बाय-पास करके आध्यात्मिक मूल्यों की बात करना, सरासर निष्फल है ।

सारांश रूप में हम यह कह सकते हैं कि देश-क्षेत्र की विशेषता, विविध पर्यायों की उपलब्धता, वैयक्तिक रुचिभिन्नता, धार्मिक-सांस्कृतिक एवं भावनिक मान्यता आदि अनेक दृष्टिकोणों के आधार पर, 'व्यक्ति का शाकाहारी या मांसाहारी होना'-तय होता है । व्यक्ति के शाकाहार या मांसाहार को देखकर, उसे 'हिंसक' या 'अहिंसक' कहना, कोई तार्किक अनिवार्यता नहीं है ।

(३) वैचारिक अहिंसा अर्थात् अनेकान्तवाद :

मूल जैन धर्मग्रन्थों में बीजरूप से दिखायी देनेवाला अनेकान्तवाद उत्तरवर्ती जैन ग्रन्थकारों ने धीरे-धीरे अच्छी तरह से पल्लवित और पुष्पित किया । पाँचवी-छठीं शताब्दी के बाद जैन नैयायिकों ने अनेकान्तवाद से निष्पन्न स्याद्वाद और नयवाद का उपयोजन अन्य दार्शनिकों के खण्डन के लिए एक पद्धतिशास्त्र के रूप में प्रस्तुत किया । लेकिन प्रस्तुत शोधलेख का विषय ध्यान में रखते हुए, यहाँ अनेकान्तवाद की मीमांसा वैचारिक अहिंसा और सहिष्णुता के तौर पर ही प्रस्तुत की है । उसका न्यायशास्त्रगत विस्तार यहाँ ध्यान में नहीं रखा है ।

अनेकान्तवाद के प्रस्तुतीकरण की पद्धति निम्न प्रकार से दी जाती है -

जगत् की कौनसी भी वस्तु-व्यक्ति और घटना मूलत: अनन्तधर्मात्मक होती है । उसके प्रति देखनेवाले की दृष्टियाँ भी द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव आदि रूप से अलग-अलग होती हैं । इसलिए व्यक्ति को 'सत्' का पूरा दर्शन कभी नहीं हो पाता । उसका जितना भी ज्ञान और आकलन है वह आंशिक होता है । विशिष्ट दृष्टि से ही सत्य होता है । इसलिए हर-एक व्यक्ति ने अपने अंशात्मक ज्ञान को पूर्ण ज्ञान नहीं समझना चाहिए । दूसरों के मतों का आदर करना चाहिए । इस प्रकार वैचारिक उदारता रखे हुए हम विश्वशान्ति की ओर अग्रेसर हो सकते हैं ।

अनेक जैन और जैनेतर आचार्यों ने इस सिद्धान्त को वैचारिक अहिंसा भी कहा है । यद्यपि सिद्धान्त रूप से अनेकान्तवाद सराहनीय है तथापि निम्नलिखित चिकित्सा में उसकी मर्यादाएँ भी ध्यान में आती हैं -

* भारत के सामाजिक क्षेत्र में स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद कुछ विशेष ही उलथपुलथ हो रही है । जातिवर्णविरहित समाज की समता के आधारपर रचना करना, भारतीय संविधान का ध्येय है । तथापि सामाजिक समता के निर्माण के लिए कुछ जाति-उपजातियों के लिए आरक्षण की व्यवस्था की है । नतीजा यह हुआ है कि यह बात जातीय अस्मिताओं को बढावा दे रही है । दूसरी ओर, व्होटबँक के रूप में जातीय अस्मिताएँ जीवित रखी जा रही हैं । यही बात पक्षीय अस्मिता एवं धार्मिक अस्मिताओं के बारे में भी कही जा सकती है । चाहे प्रत्यक्ष वादविवाद हो, वृत्तपत्र हो या इलेक्ट्रॉनिक मीडिया में हो, समन्वयवाद बहुत ही

कम और मतभेद अतिशय तीव्रता से सामने आ रहे हैं । अनेकान्तवाद और अहिंसा की चर्चा बहुत सारे जैन और जैनेतर ग्रन्थों में भी रही हैं । प्रवचन-उपदेश या सत्संगों का वह लोकप्रिय विषय है । लेकिन वैयक्तिक अहंगण्ड एवं जातीय-प्रान्तीय-धार्मिक अस्मिताएँ अनेकान्तवाद के उपयोजन में नयी नयी समस्याएँ खडी कर रही हैं । इसलिए मूल स्वरूप में सामर्थ्यशाली होनेवाला यह तत्त्व याने उदारमतवाद अब हतप्रभ सा हो गया है । कुछ मामलों में तात्कालिक स्वरूप में शान्ततापूर्ण सामाजिक आन्दोलन दिखायी दे रहे हैं । अनेकविध प्रश्न सुलझाने के लिए यह तरीका सफल हो जाय तो हम कह सकते हैं कि इस तत्त्व में कुछ जान अभी बाकी है ।

* पं. सुखलालजी संघवी जैसे विद्वान अभ्यासक एक अलग तरीके से अनेकान्तवाद की मर्यादाएँ स्पष्ट करते हैं - एक जवान (युवक) किसी जैन धर्मगुरु से पूछता है कि आपके पास जब समाधानकारी अनेकान्त-दृष्टि और अहिंसा तत्त्व मौजूद हैं तब आप लोग आपस में ही गैरों की तरह बात-बात में क्यों टकराते हैं ? मन्दिर के लिए, तीर्थ के लिए, धार्मिक प्रथाओं के लिए, सामाजिक रीतिरिवाजों के लिए - यहाँ तक की वेश रखना तो कैसा रखना, हाथ में क्या पकडना, कैसे पकडना इत्यादि बालसुलभ बातों के लिए आप लोंग क्यों आपस में लडते हैं ? क्या आपका अनेकान्तवाद ऐसे विषयों में कोई मार्ग निकाल नहीं सकता ?

''समग्र विश्व के साथ जैन धर्म का असली मेल कितना और किस प्रकार का हो सकता है ?''- सुखलालजी के इस प्रश्न में ही अहिंसा और अनेकान्तवाद की मर्यादा स्पष्ट रूप से प्रतिबिम्बित है ।

* जैन परम्परा एक स्वतन्त्र दार्शनिक परम्परा है । द्रव्य एवं तत्त्वों का उसका अपना एक अलग ढाँचा है । उसी के आधारपर पूरे जैन तत्त्वज्ञान एवं आचार का प्रासाद खडा है । अनेकान्तवाद भी इसी तत्त्वज्ञान के आधार से प्रस्फुटित हो गया है । जैन दर्शन के मूल तात्त्विक विचारधाराओं को हमें मूल गृहीतकों के स्वरूप में मानना ही पडता है । 'वे तत्त्व एक दृष्टि से हैं भी और नहीं भी'-इस तरह प्रस्तुत नहीं किये जा सकते । सूत्रकृतांग के पाँचवें अध्ययन में स्पष्टता से कहा है कि, 'आत्मा-अस्तिकाय-आस्रव-संवर-मोक्ष आदि सब हैं ही'-इस स्वरूप में स्वीकार करें । किसी भी परिस्थिति में, 'ये नहीं हैं'-ऐसा नहीं माना जा सकता । अनेकान्तवाद की गृहीतकों के बारे में होने वाली मर्यादा सूत्रकृतांग ने निस:देह रूप में प्रकट की है ।

* एकत्र कुटुम्बपद्धति भारत की विशेषता मानी जाती है । अनेकान्तवाद के उदाहरण के तौरपर वह प्रस्तुत की जा सकती है । लेकिन गहराई तक जाये तो यह मालूम होता है कि प्राय: वह कुटुम्ब के विशिष्ट व्यक्ति के त्यागपर आधारित है । जब कुटुम्ब के अन्य व्यक्ति आपमतलबी हो और एक ही व्यक्ति त्याग

करती रहे तो इसे हम एक व्यक्ति के भलेपन का शोषण भी कह सकते हैं । इसे अनेकान्तवाद कहने की भूल हमें नहीं करनी चाहिए ।

* आज का युग Decision Makers का याने अन्तिम निर्णय लेनेवालों का युग है । हमारे व्यक्तिगत-कौटुम्बिक और सामाजिक क्षेत्र में तथा औद्योगिक क्षेत्र में भी कई बार तुरन्त निर्णय लेने के प्रसंग आते हैं । कई बार हमारे निर्णय गलत भी साबित होते हैं । तथापि अगर प्रगति करनी है तो अपने दृढ मतों का सहारा लेकर निर्णय लेना आवश्यक होता है । अनेकान्तवादी व्यक्ति अगर सारासार का विचार करते हुए कालहरण करें तो सामने आया हुआ अवसर भी वह खो सकता है । जो तय किया है, उसका दृढता से अनुपालन भी करना पडता है । सारांश, कभी-कभी निर्णयशक्ति के ऊपर अनेकान्तवाद का विरोधी प्रभाव भी पड सकता है ।

कई तरीकों से हम दूसरों के मत जान सकते हैं, उसका सम्मान भी कर सकते हैं लेकिन प्रत्यक्ष कृति की बात जब आती है तब एकही निर्णय लेना पडता है ।

* वस्तुत: अनेकान्तवाद एक वैचारिक शैली है । लेकिन अनेक जैन और जैनेतर लेखकों ने इसे एक वाद या 'ism' की तरह प्रस्तुत किया है । जैसे कि जैन कहते हैं, 'सांख्य-वैशेषिक-जैमिनीय-वेदान्त आदि केवल नय या नयाभास है, सिर्फ अनेकान्तवाद ही परिपूर्ण दर्शन है ।' सहिष्णु जीवनदर्शिता को अगर एक वाद के स्वरूप में स्वीकारा जाय तो, 'अनेकान्तस्य अपि अनेकान्त:' इस न्याय से वह भी आंशिक सत्य ही हो जायेगा । यही उसकी मर्यादा है ।

* अल्बर्ट आईनस्टाईन की 'Theory of Relativity' और जैनों का 'अनेकान्तवाद' इनका निकटका सम्बन्ध कई विचारवन्तोंने अधोरेखित करने का प्रयास किया है । तथापि यह बात भी मननीय है कि विज्ञान के क्षेत्र में अब सापेक्षतावाद अकाट्य सिद्धान्त के स्वरूप में नहीं स्वीकारा जाता । इसी वजह से अनेकान्तवाद को भी एकमेव अन्तिमत: सत्य सिद्धान्त के स्वरूप में नहीं माना जा सकता ।

* अन्त में एक बात भी विशेष कथनीय है कि मुख्यत: अध्यात्मलक्षी तत्त्वज्ञान को समाजाभिमुख बनाने का प्रयास जैन वातावरण में अनेकान्तवाद ने किया है । इसी वजह से पं. सुखलालजी भी कहते हैं कि, ''जैनियों को चाहिए कि वे 'आप्तमीमांसा' और 'सन्मतितर्क' के बजाय 'समाजमीमांसा' एवं 'समाजतर्क' की ओर अभिमुख हो जाय ।'' अहिंसा तत्त्व को सामाजिक रूप में परिणत करने का श्रेय वे महात्मा गांधीजी को देते हैं । कहते भी हैं कि, ''यद्यपि अहिंसा तत्त्व जैनियों का है तथापि 'उसका सामाजिक क्षेत्र में उपयोजन करना'-यह महात्मा गांधीजी की जैन समाज को ही देन है ।''

(४) हिंसाधार व्यवसायों का निषेध :

जैन श्रावकों के लिए पन्द्रह निषिद्ध व्यवसायों की सारणी ग्रान्थिक रूप में उपासकदशा एवं आवश्यकसूत्र में पायी जाती है । श्वेताम्बरीय श्रावकों के लिए बनाये हुए षडावश्यक के पाठ में पन्द्रह निषिद्ध व्यवसाय गिनाये जाते हैं । 'ये सभी व्यवसाय हिंसाप्रधान प्रवृत्तियों पर आधारित हैं'-यह विचार इसकी पृष्ठभूमि है । अगर इन सब व्यवसायों की चिकित्सक दृष्टि से समीक्षा करें तो आधुनिक परिप्रेक्ष्य में कुछ नये तथ्य सामने आते हैं ।

इन पन्द्रह में से चार-पाँच व्यवसाय ऐसे हैं कि जिन्हें हम नैतिकता की लोकव्यापी धारणा के अनुसार सर्वथा वर्ज्य मान सकते हैं । हमें मालूम है कि हाथीदन्त का व्यवसाय, विष और नशीली पदार्थों का व्यापार, लैंगिक शोषण के तौर पर बालिका और स्त्रियों की विक्री, सभी तरह का Human Trafficking ये सब व्यवसाय किसी भी देश में-किसी भी काल में वांछनीय नहीं हैं । लेकिन कोयला बनाना, भाड में ईंटें पकाना, द्विदल वस्तु से दाल बनाना, गेहूँ आदि से आटा आदि बनाना, कुआँ और सरोवर का निर्माण करना, यातायात के साधन भाडे पर देना, यातायात के साधन बनाना, दूध-दही-घृत-तेल का विक्रय करना, इक्षुरसयन्त्र और जलयन्त्र आदि की निर्मिति और विक्रय करना - आदि अनेक व्यवसाय आज के परिप्रेक्ष्य में निषिद्ध नहीं माने जा सकते । महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इनमें से कई व्यापार सामाजिक उच्च-नीचता की अवधारणा पर बने हुए हैं । जब जाति-जाति में उच्चता नहीं रही है तब व्यवसायों में भी नहीं रहनी चाहिए ।

इनमें कई व्यवसाय ऐसे हैं कि जैन वैश्य वर्ग भी इन्हें मध्ययुगीन काल से करता आया है । दूसरी बात यह है कि कोयला बनाना, तेल निकालना, औषधी बनाना आदि व्यवसाय निषिद्ध माने हैं । जैन गृहस्थ को कोयला (आधुनिक काल में रॉकेल, गॅस इत्यादि), तेल आदि का उपयोग रसोई बनाने के लिए तो करना ही पडता है । इससे यह निष्पन्न होता है कि अगर कोयला, तेल आदि दूसरों ने बनवाया तो जैन श्रावक वह चीजें उपयोग में ला सकते हैं । मतलब यह हुआ कि उसमें निहित हिंसा के भागीदार हम नहीं बनना चाहते । दूसरों द्वारा बनायी गयी चीजों का अगर हम इस्तेमाल कर सकते हैं तो खुद को उन चीजों को बनाने का या बेचने का निषेध तर्कसंगत नहीं लगता ।

रोजगार निर्मिति के प्राधान्य देनेवाले आधुनिक काल में किसी भी न्याय्य व्यवसाय को निषिद्ध नहीं माना जा सकता । आवश्यकता है कि उसमें professional ethics याने व्यावसायिक नीतिमत्ता का पालन

हो । नफा रास्त हो, किसी का शोषण न हो, सरकारी टॅक्स सही तरीके से भरे, पर्यावरण की हानि न हो – इस प्रकार के पथ्य रखना ही आधुनिक काल में उचित है । निषिद्ध व्यवसायों की सारणी के बजाय नीतिमूल्यों की सारणी उपयोजित की जाय तो सही अर्थ में अहिंसा का पालन होगा ।

(५) जैन तत्त्वज्ञान में कालचक्र और बढती दुष्प्रवृत्तियाँ :

जैन और हिन्दु कालचक्र की संकल्पना में थोडा फर्क है लेकिन दोनों एकवाक्यता से कहते हैं कि प्रस्तुत कालचक्र में दुष्प्रवृत्तियाँ दिन-ब-दिन बढनेवाली ही है । जैन मत के अनुसार, प्रस्तुत काल में पंचम आरा है । उसका नाम 'दुषमा' है । आगामी काल 'दुषमादुषमा' है । इस प्रकार पर्यावरण के सन्तुलन का भी ऱ्हास होगा और दुष्प्रवृत्तियाँ भी बढेगी । हिन्दु अवधारणा के अनुसार, यह चौथा कलियुग है और कल्कि अवतार के बावजूद भी प्रलय से ही इस युग का अन्त होनेवाला है ।

जैन ग्रन्थ सूत्रकृतांग से स्पष्ट होता है कि किसी भी काल में पापपुण्य, सदाचार-दुराचार दोनों भी रहनेवाले हैं । सूत्रकृतांग में बारह मुद्दों में गुनहगारी-विश्व का सजीव चित्रण पाया जाता है । दूरदर्शन पर प्रसृत 'सत्यमेव जयते' कार्यक्रम के सभी विषय, सूत्रकृतांग में अन्तर्भूत किये हुए दिखायी देते हैं । मतलब यह हुआ कि दुष्प्रवृत्तियाँ पुराने जमाने में भी थी, आज भी हैं और कल भी रहेंगी ।

बढती हुई दुष्प्रवृत्तियों के अनेक आयाम हैं और अनेक कारण हैं । जैसे कि – बढती हुई आबादी, आर्थिक विषमता, जीवनसंघर्ष, बेरोजगारी, दैनंदिन जीवन की गतिमानता, गरीबी, अज्ञान, धार्मिक धारणाएँ, विविध अस्मिताएँ, व्यक्तिस्वातन्त्र्यवादी दृष्टिकोण, सामाजिक विषमता और मोह-लोभ-लालच आदि भावनिक कारण इत्यादि । स्वाभाविक है कि जब तक इन कारणों का निरास नहीं होगा तब तक विश्वशान्ति कैसे निर्माण होगी ? ये सब कारण दूर करना, किसी भी युगपुरुष-अवतार-मसीहा आदि के बस की बात नहीं है ।

जब जब अवतारों ने धर्मसंस्थापना का प्रयत्न किया तब तब उन्होंने शस्त्र और हिंसा का ही आधार लिया । यद्यपि महावीर पूरे अहिंसक थे तथापि उपदेश के द्वारा सभी दुष्प्रवृत्तियों का निर्मूलन करना, उनके वश में नहीं था । अन्यथा महावीरकालीन जैन इतिहास में 'रथमुशलसंग्राम' और 'महाशिलाकण्टक-संग्राम' जैसे युद्धों का उल्लेख नहीं पाया जाता ।

इतिहास के समालोचन के द्वारा यही तथ्य सामने आता है कि विश्वशान्ति एक आदर्शवादी संकल्पनामात्र है । उसको वास्तव में लाना सर्वस्वी मानवी प्रयत्न के दायरे के बाहर की बात है ।

(६) हिंसा के चार प्रकार :

असली बात यह है कि अहिंसा का विवेचन करनेवाले जैन ग्रन्थ में ज्यादा से ज्यादा हिंसा के प्रकार और उपप्रकारों का ही वर्णन पाया जाता है । अहिंसा की सर्वमान्य व्याख्या देना बहुतही मुश्किल है लेकिन जैन ग्रन्थकार हिंसा की व्याख्या देने में ज्यादा सफल हुए हैं । विचारवन्तों ने 'प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा', इस व्याख्या के अनेक आयाम सामने लाये हैं और स्पष्ट किया है कि, ''प्रमाद एवं षड्विकारों के कारण से, खुद के और दूसरे के, भावप्राणों का या द्रव्यप्राणों का किया हुआ घात या वध हिंसा है ।'' जैन ग्रन्थों में हिंसा के चार प्रकार बताये हैं -

- 'आरम्भी हिंसा' जीवनोपयोगी साधन जुटाने के लिए की हुई हिंसा है । वह कितनी भी कम करें लेकिन वह अनिवार्य हिंसा है ।
- आजीविका के लिए किया हुआ उद्योग 'उद्यम' कहलाता है । हर एक उद्यम में हिंसा अनिवार्य रूप में करनी ही पडती है ।
- अन्याय का प्रतिकार करने के लिए की हुई हिंसा 'विरोधी हिंसा' है । इसके कई उदाहरण जैन इतिहास में भी पाये जाते हैं । जैन शास्त्र प्रणीत शलाकापुरुषों में वासुदेव-प्रतिवासुदेव की अवधारणा निश्चित रूप से की गयी है । ये मानों सत्प्रवृत्ति-दुष्प्रवृत्तियों का युद्ध ही है । इस प्रकार के युद्ध प्रसंगोपात्त आवश्य माने हैं ।
- हिंसा का चौथा प्रकार 'संकल्पी हिंसा' है । रागद्वेष के वश होकर, संकल्पपूर्वक हिंसा करने का निषेध जैन धर्म ने हमेशा किया है ।

लेकिन उक्त तीन प्रकार की हिंसा तो अनिवार्य रूप से मानी ही है । मानों अहिंसा की मर्यादा की ओर ही ये तीन हिंसाएँ संकेत दे रही है ।

उपदेशप्रधान जैन ग्रन्थों ने कई बार उपमा-दृष्टान्त और रूपकों का उपयोजन पाया जाता है । कई बार आध्यात्मिक क्षेत्र में भी युद्ध का रूपक प्रयुक्त होता है । उत्तराध्ययनसूत्र का नमिप्रव्रज्या अध्ययन पूरी तरह युद्ध के रूपक पर आधारित है । जिस अध्यात्म में अहिंसा और शान्ति का साम्राज्य है उसके सन्दर्भ में युद्ध और हिंसा के दिये हुए रूपक, एक विचारवन्त के लिए, सचमुच एक आह्वान है ।

(७) मानवजाति की प्रगति के लिए अनिवार्य हिंसा :

अगर अहिंसा का मूलगामी विचार करें तो प्राणिविज्ञान, शरीरविज्ञान, औषधीविज्ञान, जनुकीयविज्ञान, अन्तरिक्षविज्ञान आदि कई ज्ञानक्षेत्रों में नये नये प्रयोग हो रहे हैं । उन प्रयोगों की सफलता-असफलता देखने

के लिए ये सब प्रयोग वानर-गिनिपिग्ज्-विविध पशुपक्षी-वनस्पति आदि पर किये जाते हैं । कई बार प्रयोग असफल होने से इनकी हिंसा भी होती है । शरीरविच्छेदन के लिए कई प्राणियों का इस्तेमाल करना पडता है । कई बार जैन संघटनाएँ इसका विरोध भी दर्शाती है । लेकिन तथ्य यह है कि इस हिंसा को सर्वस्वी निषिद्ध नहीं माना जा सकता । आधुनिक परिप्रेक्ष्य में यह 'अनिवार्य हिंसा' के अन्तर्गत आ सकती है ।

उपसंहार :

उपसंहार में हम यहीं कहना चाहते हैं कि सैद्धान्तिक दृष्टि से अहिंसा एवं विश्वशान्ति का सम्बन्ध बहुत ही निकटता का है । अगर विश्वशान्ति निर्माण होनेवाली है तो अहिंसा के सिवाय कोई दूसरा रास्ता ही नहीं है । शाकाहार के द्वारा, पर्यावरण की रक्षा के द्वारा, उपदेश और सत्संग के द्वारा, बौद्धिक चर्चाओं के द्वारा, सैकडों स्वयंसेवी संस्थाएँ अहिंसाप्रचार का काम कर रही हैं और करती ही रहेंगी । इस शोधनिबन्ध में हमने विश्वशान्ति की प्रस्थापना के लिए कौनकौनसी मर्यादाएँ हैं, यह दिखाने का वास्तववादी प्रयास किया है । हमारे अभिमत से, जैसा की शोधलेख में कहा है कि, ''विश्वशान्ति एक 'आभासी सत्य' (virtual reality) है ।'' आदर्शवाद के स्वरूप में सर्वदा मान्य है । लेकिन दुनिया का दिन-ब-दिन बदलता रुख देखनेपर कोई भी विचारवन्त यह नहीं कह सकता कि, 'हम विश्वशान्ति की ओर बढ रहे हैं ।' आशावादी सूर लगाने के बजाय, हमें हमारी परवशता एवं हतबलता एक वास्तव के स्वरूप में मान्य करनी ही पडेगी । वैसे भी जैन तत्त्वज्ञान में अध्यात्म की प्रधानता होने के कारण विश्वशान्ति की बात बहुत ही कम मात्रा में छेडी गयी है । आत्मकल्याण और आत्मशान्ति की बात हमेशा अग्रेसर रही है । अत: हमें मान्य ही करना पडेगा कि विश्वशान्ति के प्रयास हमें 'निष्कामता' से ही करने पडेंगे ।

****

सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूचि (अकारानुक्रम से)

१) आचारांग (आयारो) : सं.आ.तुलसी, मुनि नथमल, जैन विश्वभारती, लाडनूं (राजस्थान), १९७४
२) आवश्यकसूत्र (आवस्सयसुत्तं) : महावीर जैन विद्यालय, मुम्बई, १९७७
३) उपासकदशा (उवासगदसा) : अंगसुत्ताणि ३, जैन विश्वभारती, लाडनूं (राजस्थान), वि.सं.२०३१
४) तत्त्वार्थसूत्र : वाचक उमास्वाति, पं. सुखलालजी संघवी, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी, २००१
५) दशवैकालिक (दसवेयालिय) : नवसुत्ताणि ५, जैन विश्वभारती, लाडनूं (राजस्थान), १९८७
६) दर्शन और चिन्तन : पं. सुखलाल संघवी, सं. दलसुख मालवणिया, जैन संस्कृति संशोधन मण्डल, बनारस, १९५७
७) पुरुषार्थसिद्ध्युपाय : आ.अमृतचन्द्र, व्याख्याकार : क्षुल्लक धर्मानन्द, सुरेश जैन, नई दिल्ली, १९८९
८) प्रश्नव्याकरण (पण्हावागरणाइं) : अंगसुत्ताणि ३, सं.आ. तुलसी, युवाचार्य महाप्रज्ञ, जैन विश्वभारती, लाडनूं (राजस्थान), वि.सं.२०३१
९) भगवती आराधना : आ.शिवार्य, विजयोदया टीकासहित, सं.कैलाशचन्द्र शास्त्री, हिराचन्द खुशालचन्द जैन ग्रन्थमाला, फलटण, १९९०
१०) विपाकसूत्र (विवागसुय) : व्याख्याकार : ज्ञानमुनि, सं.शिवमुनि, आगम प्रकाशन समिति, लुधियाना, २००४
११) व्याख्याप्रज्ञप्ति (वियाहपण्णत्ती/भगवई) : सं.आ.तुलसी, युवाचार्य महाप्रज्ञ, जैन विश्वभारती, लाडनूं (राजस्थान), १९९२
१२) सूत्रकृतांग (सूयगडो) : सं.आ.महाप्रज्ञ, जैन विश्वभारती, लाडनूं (राजस्थान), २००६
१३) रिसर्च-पेपर : जैन श्रावकाचार में पन्द्रह कर्मादान : एक समीक्षा, डॉ.कौमुदी बलदोटा, ऑल इंडिया ओरिएण्टल कॉन्फरन्स (AIOC), अधिवेशन ४४, कुरुक्षेत्र, जुलै २००८

****